



## लेखक के समकालीन

जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग ने रवींद्रनाथ ठाकुर और उनके यशस्वी समकालीनों पर दो दिनों का एक परिसंवाद आयोजित किया। मुझे, उसके सिलसिले में सोचते हुए, लगा कि कितना ही बड़ा क्यों न हो कोई भी लेखक अकेला नहीं होता। बहुत थोड़े अपवाद छोड़ दें तो हर लेखक के साथ उसके समकालीन भी होते हैं- वे उसके बने-बिगड़ने में भूमिका निभाते हैं। उनसे संवाद, सहमति-असहमति, नोकझोंक आदि से भी लेखक बनता-बिगड़ता है। कुछ समकालीन तो शुद्ध जैविक संयोग से उसके समकालीन या समवयसी होते हैं; कुछ वह चुनता है; कुछ बिना चुने भी उस पर अपनी मददगार, टेंढ़ी या तीखी नजर रखते हैं। कुछ उसे वर्तमान समय देता है, कुछ परंपरा से पाता है। बड़ा लेखक अक्सर अपने पूर्वजों में से किन्हीं को अपना समकालीन बना लेता है।

हालांकि गांधी, श्रीअरविंद, वल्लभभाई, सुब्रमण्यम भारती, नजरूल इस्लाम, शरदचंद्र, इक़बाल आदि उनके समकालीन थे, रवींद्रनाथ ने कबीर को भी अपना समकालीन बनाया था। 1914 में जब नोबेल पुरस्कार पाने के बाद उन्होंने कबीर का अंगरेजी अनुवाद 'ए हंड्रेड पोएम्स ऑफ कबीर' के नाम से प्रकाशित किया तो यह कबीर का विश्वप्रवेश बना। उसी अनुवाद से कई भाषाओं जैसे फ्रेंच, पोलिश आदि में कबीर गए। कबीर का बुनियादी अंतर्विरोध निर्गुण दृष्टि और सगुण कविता रवींद्रनाथ में भी था। इसी कबीर को शांति निकेतन में हिंदी भवन में गए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बड़े कवि के रूप में आलोचनात्मक ढंग से हिंदी में प्रतिष्ठित किया।

दूसरे समकालीन थे: अलबर्ट आइंस्टीन जिसे गुरुदेव की एक लंबी बातचीत हुई थी। वे यह इसार कर रहे थे कि सौंदर्य और सत्य तब तक वैसे नहीं होते जब तक कि मानवीय बोध ने उन्हें ऐसा न पाया हो। वे आत्यंतिक नहीं, मानवीय बोध-सापेक्ष हैं। महान वैज्ञानिक इससे सर्वथा असहमत थे। उनका रुख था कि मनुष्य देखे या न देखे, पहचाने या न पहचाने सत्य और सौंदर्य अपने से होते हैं। बातचीत के उत्तरचरण में दोनों संगीत पर चर्चा करते रहे। कहा जाता है कि उत्तरभूमितीकी से यह प्रभावित होता है कि कवि वैज्ञानिक की तुलना में सच्चाई के अधिक नजदीक निकला।

तीसरी समकालीन थीं लातीनी अमेरिकी कवयित्री विक्टोरिया ओकांम्पो जिनके अनुवादों ने लातीनी अमेरिका में रवींद्र-उपस्थिति और प्रभाव व्यापक और सशक्त किए। गाब्रिएला मिस्त्राल ने रवींद्र का अनुकरण करते हुए तीन गद्यगीत लिखे और पाब्लो नेरूदा ने तो उनकी एक कविता हुबहु अनुवाद में अपनी बना कर पहले संग्रह में प्रकाशित करा दी। दोनों को बाद में नोबेल मिला। ओकांम्पो की ही पहल पर रवींद्रनाथ के चित्रों की पहली एकल प्रदर्शनी पेरिस में आयोजित हुई थी।

चौथे समकालीन थे 'प्रवासी' और 'माइन रिव्यू' के संपादक रामानंद चट्टोपाध्याय। दोनों के बीच लंबा पत्राचार होता था जिसका, सौभाग्य से, हिंदी में बहुत सुघर अनुवाद, रणजीत साहा द्वारा किया हुआ, 'काल पत्र' नाम से ग्रंथलेखन से प्रकाशित है। रवींद्रनाथ ने 1917 में एक पत्र में लिखा कि 'रवींद्रनाथ का दोष यह है कि वह खजुर के पेड़ के समान बिना खरोंचे रस नहीं देता। आप यदि यथावसम घूस न देते तो 'गोरा' किसी भी प्रकार से नहीं लिखा जा सकता। बिल्कुल अस्थिर न होने पर मैं अधिसंख्य बड़ी या छोटी कहानियां नहीं लिखता। यदि यह पूछें कि मेरा मिजाज ऐसा बिगड़ा क्यों है तो इसका उत्तर यही होगा कि आज तक अनेक प्रमाण पता है कि मुझे सच्चा विश्वास नहीं हुआ है कि मैं कुछ लिख सकता हूं।... एक गोपनीय बात है, उसे कहने पर कोई विश्वास नहीं करेगा, किंतु बात सच है। वह यह है, जिस व्यक्ति की रचना रवींद्रनाथ ठाकुर के नाम से चलती है, वह यह रवींद्र ठाकुर नहीं। जो व्यक्ति गाली खाता है और नोबेल पुरस्कार पाता है, वह है सर रवींद्रनाथ। वह एक दिन पकड़ा जाएगा।' उधर रामानंदजी ने एक पत्र में कहा: '... मुझे लगता है कि एक ऋषि-कवि रूप में आप असाधारण मानव और चरित्रवेत्ता होने पर भी लोकव्यवहार में आप किसी-किसी मनुष्य को पहचान नहीं पाते हैं।' रवींद्रनाथ ने अपने एक पत्र में 1934 में गांधीजी की आलोचना करते हुए लिखा कि '... देश

की शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्माण-कार्य, और वाणिज्य जैसे कर्तव्य को महत्व देते हुए अकृत्रिम निष्ठा के साथ पालन करना ही देश को लाभ पहुंचाना ही उसकी जय है। सबको मिल कर केवल चरखे पर सूत कातने से ही सारे देश का हृदय उद्देलित नहीं हो सकता।'

## भारतीय कला में सौंदर्यशास्त्र

हमारे यहां सौंदर्यशास्त्र शब्द का प्रयोग काफी नया है और वह यूरोप में अठारहवीं शताब्दी से प्रचलित हुए शब्द 'एस्थेटिक्स' के वजन पर बनाया गया है। हमारे शास्त्रों की लंबी परंपरा में 'सौंदर्य मीमांसा' नामक तो कई शास्त्र नहीं रहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीनों ने सौंदर्य पर, रूपरचना, सृजन प्रक्रिया आदि पर विचार नहीं किया है: रस सिद्धांत, ध्वनि और अलंकार आदि के संप्रदाय इस लंबे विचार और विवाद का साक्ष्य हैं। कई बार यह लगता है कि इस सारे कला-चिंतन में दो परस्पर विरोधी धाराएं एक साथ चलती रही हैं: बहुलता और एकीकरण की वृत्तियां। सारी बहुलता को, जो हमारे जैसे बहुभाषिक-बहुधार्मिक देश में स्वाभाविक और अनिवार्य रही है, किसी मूल धारणा में एकीकृत करने या पर्यवसित करने का यत्न भी लगातार होता रहा है।

इस लंबी परंपरा की आज क्या स्थिति है, क्या संभावना है और उसमें किस तरह के परिवर्तन-परिवर्द्धन की दरकार है इन सब मुद्दों पर इलाहाबाद संप्रदाय में पिछले सप्ताह दो दिनों का एक परिसंवाद आयोजित हुआ। उसमें कमलेशदत्त त्रिपाठी, रतन परियू, सोनल मानसिंह, गीता चंद्रन आदि ने भाग लिया। हम पारंपरिक रूप से परिवर्तन को परंपरा से अलग या उसके विलोम के रूप में नहीं देखते। एक तरफ तो पुनर्नया या 'क्षणे क्षणे नवतामुपैति' की बात करते हैं और दूसरी तरफ यह रुख भी अपनाते हैं कि सब कुछ परंपरा में है, नया कुछ नहीं होता!

पिछले दो सौ वर्षों में हमने औपनिवेशिक शासन झेला, उससे स्वतंत्रता-संग्राम कर मुक्ति पाई और पिछले साठ वर्षों से अधिक बरसों से हम आधुनिक लोकतंत्र हैं: इस दोतरफ कलाओं और साहित्य में बहुत सारे मूलगामी परिवर्तन हुए हैं उनको हिसाब में लेने वाला कला-चिंतन बहुत क्षीण रहा है: साहित्य, ललित कलाओं में जो सौंदर्य-चिंतन हुआ है उसमें अधिकतर जातीय स्मृति अनुपस्थित है; संगीत और स्मृति में ऐसी स्मृति अलंबता सक्रिय है, पर उसमें आग्रह निरंतरता पर इस कदर है कि उसमें हुए परिवर्तन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। साहित्य में, उदाहरण के लिए, रामचंद्र शुक्ल की 'कर्मसौंदर्य' और मुक्तिबोध की 'ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान' की अवधारणाएं नया कुछ जरूर जोड़ती हैं। दूसरी ओर, मुकुंद लाट ने नृत्य को, अभिनवगुप्त के हवाले से, आत्मप्रतिष्ठ कदम कर जिस तरह हजारों बरस पहले परंपरा में और कथित अमूर्तन के स्वीकार को जिस तरह बताया है वह विचारोत्तेजक है।

हम अपनी कृतियों और सर्जनात्मक आचरण और व्यवहार को पश्चिमी वैचारिक संरगियों से समझने-जांचने के बहुत आदी हो गए हैं: हमने कभी अपनी पारंपरिक दृष्टि के कोण से पश्चिमी कलाओं और साहित्य को जांचने-परखने का काम नहीं किया। दुर्भाग्य से, हम यह अपरीक्षित और अतर्कित ढंग से मान बैठे हैं कि पश्चिमी सार्वभौम है; हम नहीं, न हो सकते हैं!

आधुनिकता की हमारे यहां कई समस्याएं हैं। हमारी पारंपरिक दृष्टि में साहित्य और कलाओं के लक्ष्य आनंद, समरसता आदि रहे हैं। हमारे समय में साहित्य, रंगमंच, ललित कलाएं आदि प्रश्नवाचक हुई हैं: वे श्रेष्ठ समावेशी अर्थ में भी संभवतः मनोरंजन नहीं करतीं। विचलित और प्रश्नाकुल करती हैं। पहले साहित्य और कलाएं सीमित लोग ही रचते और उनका आस्वाद ले पाते थे। अब दोनों सर्वज्ञ और रसिक का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समता, न्याय आदि की व्यवस्था और मूल्यों ने हमारी स्थिति को रैडिकल रूप से बदल दिया है। इन सबका साहित्य और कलाओं की संरचना, विषयवस्तु, शैली, प्रभाव, लक्ष्य, आस्वाद आदि पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कई कारणों जैसे शास्त्रीय संगीत और नृत्य रामराभा, दरबार, मंदिर आदि से बाहर तटस्थ स्पेस में आ गए हैं। इन सबको समेट कर विचार में लेने वाला सौंदर्यशास्त्र अब तक हमारे यहां नहीं है। कोई एक शास्त्र शायद अब हो भी नहीं सकता: कई शास्त्र होंगे, क्योंकि इस बीच साहित्य और कलाएं इस कदर विरोधीकृत और स्वायत्त हो गए हैं कि उनका दूसरों से संपर्क-संवाद-सहकार बहुत शिथिल है। दुर्भाग्य से, ऐसे चिंतन दिखाई-सुनाई कम पड़ रहा है। उसके लिए निजी पहल और संस्थागत उपायों का भी कुल मिला कर अभाव है। रचा, लिखा, गाया-नाचा सौंदर्य है- बदला हुआ, विचारोत्तेजक भी- पर उसके समकक्ष सौंदर्यचिंतन नहीं है।

ashok\_vajpeyi@yahoo.com

नई दिल्ली